

द्वैत-अद्वैत का समन्वय

श्री आनन्दस्वरूप गुप्त

प्राच्य तथा पाश्चात्य देशोंके सभी अध्यात्म-दर्शन द्वैतपरक या अद्वैतपरक इस प्रकारके दो विभागोंमें विभक्त किये जा सकते हैं। ऊपरी दृष्टिसे ये एक दूसरेके विपरीत प्रतीत होते हुए भी ये दोनों ही प्रकारके दर्शन (तत्त्वज्ञान) वस्तुतः परस्पर समन्वयात्मक हैं, और मनुष्यजीवनके विकासस्तरके भेदसे मानवजीवनके लिए दोनोंका ही उपयोग है। परन्तु पाश्चात्य दर्शनका मुख्य उद्देश्य जहाँ परमतत्त्व (ultimate Reality) का प्रायः बौद्धिक ज्ञान प्रदान करना है वहाँ प्राच्य दर्शनका—विशेषतः भारतीय दर्शनका—लक्ष्य मनुष्यको बुद्धिसे ऊपर उठाकर उसे परमतत्त्वका दर्शन (साक्षात्कार) कराना है और पुनः जीवनके व्यावहारिक क्षेत्रमें उस दर्शन या साक्षात्कारका अवतरण कराना है। अतः द्वैत तथा अद्वैत दोनों ही प्रकारके भारतीय आध्यात्मिक दर्शन केवल बुद्धिकी ही वस्तु न रहकर सम्पूर्ण जीवनकी वस्तु बन गये। इसीलिए प्रायः भारतके सभी दार्शनिक तथा मनीषी सच्चे अर्थमें तत्त्ववेत्ता तथा आत्मदर्शी थे। उनका दर्शन-ज्ञान उनके जीवनमें ओतप्रोत था। वैसे तो पश्चिममें भी हमें शोपनहार जैसे कुछ दार्शनिकोंके रूपमें ऐसे उदाहरण मिलते हैं। परन्तु ये पाश्चात्य दार्शनिक प्रायः भारतीय तत्त्वज्ञान तथा आध्यात्म ग्रन्थों (गीता, उपनिषद् आदि) से प्रभावित थे।

द्वैत तथा अद्वैत तत्त्वज्ञानका जीवनके व्यवहारक्षेत्रमें जहाँ अलग अलग भी उपयोग है, वहाँ इन दोनोंका जीवनमें समन्वय भी सम्भव है। ऐसा समन्वय ही प्रस्तुत लेखका विषय है। भारतीय दृष्टि प्रायः समन्वयात्मक हो रही है और है; भारतीय दृष्टिसे जीवनमें द्वैत अद्वैतके इस प्रकारके समन्वयका कुछ दिग्दर्शन यहाँ उपस्थित किया जा रहा है।

इन्द्रियजन्य ज्ञानकी सापेक्षता तथा अनेकरूपता

सभी इन्द्रियजन्य ज्ञान सापेक्ष हैं। किसी भी इन्द्रिय द्वारा जब हमें किसी पदार्थका बोध होता है तो हमारा वह इन्द्रियजन्य बोध किसी विशेष दृष्टिकोण तथा विशेष परिस्थितिके विचारसे ही यथार्थ कहा जा सकता है, क्योंकि किसी भिन्न दृष्टिकोण तथा भिन्न परिस्थितिके विचारसे वही बोध अयथार्थ भी कहा जा सकता है। इन्द्रियजन्य ज्ञानकी भाँति हमारा मानसिक तथा बौद्धिक ज्ञान भी सापेक्ष ही है। विश्वकी जिस रूपमें हमें प्रतीति होती है वह प्रतीति ज्ञाता और ज्ञेयकी विशेष परिस्थितिपर, तथा ज्ञान-ग्राहक इन्द्रियोंकी विशेष रचना तथा अवस्था पर भी निर्भर होती है। यदि हम (ज्ञाता) और बाह्य प्रपञ्च (ज्ञेय) किसी भिन्न परिस्थितिमें होते, और हमारी इन्द्रियों की रचना भी भिन्न प्रकार की होती, तो यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है, कि उस दशामें विश्वविषयक हमारे ज्ञानका स्वरूप कुछ और ही होता। सीधी लकड़ी भी जलके भीतर तिरछी प्रतीत होती है और नेत्र तिरछा करके देखनेसे कभी-कभी एक चन्द्रमाके दो चन्द्रमा प्रतीत होते हैं। पाण्डु रोगके कारण नेत्रोंके पीत वर्ण होनेसे सभी वस्तुएं पीली दिखाई पड़ती हैं। अणुवीक्षण यन्त्रसे छोटी वस्तु बहुत बड़ी, तथा दूरवीक्षण यन्त्रसे दूरस्थ वस्तु समीपस्थ प्रतीत होती है, दूर-

पर स्थित होकर देखनेसे बड़ी वस्तु भी छोटी प्रतीत होती है, तथा अत्यन्त निकट होनेसे दिखाई देने योग्य वस्तु (अक्षर इत्यादि) भी दिखाई नहीं देती। प्रेमीको कुरूप प्रिय भी सुन्दर प्रतीत होने लगता है, ज्वरादित व्यक्तिको मोठी वस्तु भी कड़वी लगती है। ऐसी स्थितिमें यही कहा जा सकता है कि हमारा सारा ज्ञान सापेक्ष ही है। अतः यह निश्चय पूर्वक नहीं कहा जा सकता कि व्यक्त जगत् जैसा हमें प्रतीत हो रहा है वह वस्तुतः वैसा ही है। यदि हमारे इन्द्रियोंका निर्माण अन्य प्रकारका होता तो सम्भव है जगत्की प्रतीति भी हमें कुछ भिन्न प्रकार की होती। और यदि मानव जातिके सौभाग्यवश मनुष्यमें किसी छठी ज्ञानेन्द्रियका भी विकास हो जाय अथवा किसी कारणसे वर्तमान पंच इन्द्रियोंका अलौकिक विकास या दिव्यीकरण हो जाय तो सम्भव है बहुत सी सत्ताएं जिसका हमें किञ्चित्मात्र भी अनुमान नहीं है, प्रत्यक्ष होकर मनुष्य की सारी ज्ञानधाराको ही परिवर्तित कर दें।

निरपेक्ष पारमार्थिक तत्त्वज्ञानका स्वरूप

अतएव प्रतीत होने वाला रूप वस्तुका यथार्थ रूप नहीं है। भिन्न-भिन्न व्यक्तियोंको यदि एक पदार्थ की समान रूपमें भी प्रतीति होती है तो उसका कारण केवल यही है कि उन भिन्न-भिन्न व्यक्तियों की उन उन ग्राहक इन्द्रियोंमें समानता है और फिर भी किसी भी पदार्थके विषयमें किन्हीं भी दो व्यक्तियों की प्रतीति शतप्रतिशत एक समान ही है, यह कभी भी सिद्ध नहीं किया जा सकता। पुनः एक ही वस्तु ज्ञानविशेष तथा परिस्थिति विशेषके कारण प्रिय, अप्रिय, सुखरूप, दुःखरूप, सुन्दर, कुरूप, छोटी बड़ी इत्यादि भिन्न-भिन्न रूपोंमें प्रतीत होती है। इसलिए भिन्न-भिन्न प्रतीत होने वाला रूप वस्तुका यथार्थ रूप नहीं है, वस्तुतत्त्व नहीं है। अतः कोई भी इन्द्रियजन्य प्रतीति तत्त्वज्ञान नहीं कही जा सकती। तत्त्व अर्थात् वस्तुके यथार्थ स्वरूपमें तो कोई भी भेद होना सम्भव नहीं है। अतः तत्त्वज्ञानमें भी भेद नहीं होना चाहिए, वह ज्ञान पारमार्थिक तथा निरपेक्ष होना चाहिए। इसलिए जितनी भी सभेद प्रतीति है वह सभी अयथार्थ है, मिथ्या है। तत्त्व तो सदैव ही भेदरहित और एकरस बना रहेगा। जो तत्त्व है एवं वस्तुतः सत् है वह तो अद्वैत और अद्वयके अतिरिक्त कुछ और हो ही नहीं सकता। सभी भेद केवल प्रतीतिमात्र हैं- सत्का विवर्तमात्र है, वह वस्तुका, सत्का, पारमार्थिक स्वरूप नहीं है। सभी विकार नाशवान् है, अतएव असत् है वाचारम्भणमात्र है।^१ विकारों की प्रकृति अर्थात् मूल पारमार्थिक सत्ता ही यथार्थ सत् और शाश्वत है, और वह स्वरूपतः अविकार्य है। वह मूलतत्त्व, वह पारमार्थिक सत्ता, चेतन है अथवा जड़ यह एक अलग प्रश्न है। परन्तु है वह मूलतत्त्व एक और अखण्ड। इस अद्वैत तत्त्व की बाहर भीतर सर्वत्र यथार्थ उपलब्धि ही मानव की जीवनयात्राका चरम लक्ष्य है।

मानव जीवन की साध—अद्वैत तत्त्वका साक्षात्कार

अनादिकालसे मानव हृदय उस अद्वैत तत्त्वकी प्राप्तिके लिए व्याकुल होता चला आ रहा है, मानव उसी अनादि तथा अनन्त तत्त्वकी खोजके लिए अनादिकालसे अपनी अनन्त यात्रा चला रहा है। और उसकी सारी चेष्टाओंका पर्यवसान उसी एक तत्त्वके ज्ञानमें होना सम्भव है। मानव ही क्या, विश्वका अणु-अणु तीव्रतम वेगसे गतिशील है। मानों वह अपने किसी प्रियतमसे मिलनेके लिए छटपटा रहा है, और उस सुखद मिलनके लिए थोड़ा भी विलम्ब सहन करनेके लिए तैयार नहीं है। वह किसी

१. यथा सौम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं स्याद्, वाचारम्भणं विकारो नामधेयं, मुक्तिकेत्येव सत्यम्।
(छा० उप० ६-१-४)

अनिर्वचनीय सत्यकी अनुभूतिके लिए एक ऐसी लम्बी दौड़ लगा रहा है जिसका विराम कहीं भी होने वाला प्रतीत नहीं होता ।^१

परन्तु इन्द्रिय सोपान द्वारा इस पारमार्थिक तत्त्व, इस परम सत्य, तक पहुँचने की आशा मनुष्य के लिए केवल दुराशामात्र ही रही है । मनुष्य-हंस अपनी मधुर कल्पनाके सुन्दर पंखों द्वारा उस एकमात्र परम-तत्त्व की प्राप्तिके लिए निरन्तर ऊपर-ऊपर उड़ता जा रहा है, सहस्रों दिन बीत गये, पर उसके वे पंख अभी तक फैले ही हुए हैं ।^२ संसारके विविध प्रकारके अनुभवों को लेता हुआ, प्रकृतिके अनेक दुर्भेद्य रहस्यों को भेदन करता हुआ, अद्भुत अद्भुत आविष्कारों द्वारा अपने बुद्धि-वैभवका चमत्कार दिखाता हुआ वह निर्वाध गतिसे ऊपर उड़ा चला जा रहा है । और उस स्वर्ग, उस आनन्दपद की प्राप्तिके लिए लालायित है, जिसको प्राप्त करनेके लिए ही उसने अपनी यह अद्भुत उड़ान आरम्भ की है ।

अद्वैत तत्त्व या परम सत्य की अवाङ्मनसगोचरता

जिन सौभाग्यशाली व्यक्तियों को, जिन क्रान्तदर्शी ऋषियों को, कभी इस परम सत्य की झांकी मिली उन सभीका यही अनुभव है कि वह परमतत्त्व अवाङ्मनसगोचर है, क्योंकि वाणी तो सापेक्ष वस्तुका ही सापेक्ष वर्णन कर सकती है, और मन भी सापेक्ष वस्तुका सापेक्ष चिन्तन, संकल्पन करनेमें ही समर्थ है । नेत्रों तथा श्रोत्रों की तो वहाँ पहुँच ही क्या हो सकती है ? अतएव जिन ऋषियोंको उस अद्वैत तत्त्वका साक्षात्कार हुआ, उनका वह अनुभव उन्हीं तक सीमित रहा । अपने उस साक्षात्कारका वे न तो वाणी द्वारा हो वर्णन कर सके, और न किसी प्रकारसे परम तत्त्व की अपनी उस अनुभूतिको वे सामान्य जनता की चीज बना सके वे तो नेति नेति कहकर ही चुप हो गए, उनके लिए उनका वह अनुभव गुँगेका गुड़ ही बना रहा । उन्होंने स्पष्ट कह दिया कि “परम तत्त्व की यह हमारी अनुभूति उपदेशका विषय नहीं, क्योंकि न तो वहाँ चक्षु की हो पहुँच है न वाणी की और न मन ही अपने सारे विद्युद्वेगसे वहाँ पहुँचनेमें समर्थ है । अतः हम नहीं जानते कि किस प्रकार इसका अनुशासन (उपदेश) करें ।”^३ इस प्रकारके साक्षात्कर्ता ऋषि सभी देशोंमें होते आए हैं । यद्यपि वे सभी परम तत्त्वका वर्णन विधिमुखेन न कर सके, फिर भी उन्होंने उसकी ओर निर्देश किया और अपने जीवन की उच्चता तथा महत्तासे मानवको श्रद्धाका अवलम्बन दिया । श्रद्धाके उस संबलको पाकर ही जिज्ञासु पथिक उत्साह सम्पन्न होकर आगे बढ़ता चला जा रहा है । उसका लक्ष्य है परम सत्य, अद्वैत तत्त्वकी प्राप्ति, भेदमें अभेद (unity in diversity)की अनुभूति, तथा अखिल प्रपंचके मूलमें निहित किसी अनिर्वचनीय अखण्ड सत्ताका साक्षात्कार ।

ज्ञानका आधार तथा लक्ष्य-भेदमें अभेदकी अनुभूति

वस्तुतः देखा जाय तो मनुष्यके सारे ज्ञानका आधार तथा लक्ष्य भेदमें अभेदकी अनुभूति ही है, चाहे वह ज्ञान इन्द्रियज हो किंवा अतीन्द्रिय । व्यक्ति विषयक ज्ञान अनेक व्यक्तियोंमें समवेत एकजाति (सामान्य सत्ता)के ज्ञान पर ही अवलम्बित है, जातिसे विच्छिन्न व्यक्तिकी प्रतीति असम्भव है । नैयायिकोंका निर्विकल्पक तथा बौद्धोंका स्वलक्षण ज्ञान तो केवल कहने की ही बात है प्रतीतिका विषय नहीं । वह ज्ञान रेखागणितके विन्दुके समान कोरी कल्पनाका विषय है । अतः हमारे व्यावहारिक ज्ञानका आधार भी अनेकतामें एकता की

१. कथं वातो नेलयति कथं न रमते मनः ।

किमापः सत्यं प्रेरयन्ती नेलयन्ति कदाचन ॥ (अथर्ववेद १०-७-३७)

२. “सहस्राह्णं वियतौ अस्य पक्षौ हरेर्हसस्य पततः स्वर्गम्” (अथर्ववेद १०-८-१८)

२. “न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति न मनो न विद्यो न विजानीमो यथैतदनुशिष्याद्” (केनोप० १-३)

विविध : २९१

अनुभूति ही है। क्योंकि अनेकता ज्ञानके लिए एकताका ज्ञान अपेक्षित है। “गो” व्यक्तिके ज्ञानके लिए गो व्यक्तियोंमें समवेत “गोत्व” जातिका ज्ञान अनिवार्य है।

जहाँ हमारे व्यावहारिक ज्ञानका आधार भेदमें अभेद, अनेकतामें एकताकी अनुभूति है, वहाँ शास्त्रीय ज्ञानका आधार तथा लक्ष्य भी भेदमें अभेद, द्वैतमें अद्वैत की अनुभूति ही है। कुशल वैज्ञानिक अनेक प्रकारके पदार्थोंका निरीक्षण करके उनमें कुछ समान तत्त्वोंका अनुसंधान करता है, तथा उनका वर्गीकरण करता है, पुनः अनेक वर्गों या श्रेणियोंको भी एक बड़े तथा व्यापक वर्ग या श्रेणीमें निबद्ध करता है, इस प्रकार क्रमशः उच्च, उच्चतर वर्गीकरण (classification) द्वारा वह अनेकतासे एकता की ओर अग्रसर होता चला जाता है। और उस एकताको प्राप्त करके सारी अनेकताओंमें उसी एकताका दर्शन करता है। पहले वैज्ञानिकोंके अनुसार सृष्टिके मूल तत्त्वों की संख्या अनेक थी, किन्तु यह संख्या अब घटते-घटते एकत्व की ओर जा रही है। पहले वे द्रव्य (matter) और शक्ति (energy) को दो भिन्न पदार्थ समझते थे, किन्तु अब द्रव्यको शक्ति का ही परिवर्तित रूप समझा जाने लगा है। अब भौतिक विज्ञानके अनुसार भी शक्तिके भिन्न भिन्न रूप एक दूसरेमें परिवर्तित किए जा सके हैं। शब्द विद्युत्‌धारा में और फिर विद्युत्‌धारा शब्दमें परिवर्तित हो जाती है। इस प्रकार भौतिक विज्ञान भी उत्तरोत्तर भौतिक अद्वैतवाद की ओर बढ़ रहा है।

दर्शनशास्त्र की प्रगति—द्वैतसे अद्वैत की ओर

इसी प्रकार दर्शन अर्थात् आध्यात्मिक विज्ञान की प्रगति भी द्वैतसे आध्यात्मिक अद्वैतवाद की ओर ही अग्रसर हुई। नैयायिकोंने विश्वको सोलह पदार्थोंमें बाँटा, वैशेषिकोंने सात पदार्थोंमें, परन्तु सांख्योंने प्रकृति (अव्यक्त, प्रधान) तथा पुरुष ये दो ही मूल तत्त्व माने। महत् (बुद्धि), अहंकार आदि शेष पदार्थोंको सांख्यने अव्यक्त प्रकृतिके ही व्यक्त विकार माने—किन्तु वेदान्त और आगे बढ़ा, और इस अखिल प्रपंचके मूलमें एक अद्वैत, अखण्ड-चेतन तत्त्वको ही स्वीकार किया। इतना ही नहीं इससे आगे बढ़कर व्यक्त जगत् की केवल व्यावहारिक सत्ता ही स्वीकार की गई, पारमार्थिक सत्ता केवल आत्मा या ब्रह्म की ही मानी गई, और सारी सृष्टिको उस ब्रह्म का, उस अद्वैत चेतन तत्त्वका ही विवर्त (अविद्यमान प्रतीतिमात्र) मान लिया गया। इस प्रकार भौतिक विज्ञान तथा दर्शन दोनों का ही चरम लक्ष्य उत्तरोत्तर भेदमें अभेद, द्वैतमें अद्वैतकी अनुभूति ही रहा है।

अद्वैत की अनुभूतिसे ही परम शान्तिलाभ

यह अभेदानुभूति ही मानव-हृदय की चिरन्तन साध है, और यही वस्तुतः तत्त्वज्ञान है। हमारी सारी चेष्टाओंका पर्यवसान इसी ज्ञानमें है।^१ अभेद की इस अनुभूतिके बिना मानवको चैन नहीं। जब तक मनुष्यको इस अद्वैत तत्त्व की, अनेकतामें एकता की, सच्ची अनुभूति नहीं होती तभी तक उसका जीवन मोह और शोकसे व्याप्त रहेगा। एकत्व की अनुभूति होने पर ही मोह और शोकके द्वन्द्वका नाश सम्भव है।^२ अनेकतामें एकता का, विभक्तमें अविभक्तका साक्षात्कार ही सच्चा सात्त्विक ज्ञान है।^३ (भ० ग० १८-२०)

विभक्तमें अविभक्त की अनुभूति ही जीवनमें परम शान्तिका लाभ सम्भव है। वस्तुतः तो एकत्व

१. तु०—“सर्व कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते” (भ० गी० ४-३३)

२. तु०—“तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः” ईशोप० ७

३. तु०—“सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते।

अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम् ॥ भ० गी० १८-२०

२९२ : अगरचन्द नाहटा अभिनन्दन-ग्रन्थ

दर्शन तथा परम शान्तिलाभ एक ही वस्तु है, इन दोनोंमें कारण कार्यका बन्धन होनेसे तात्त्विक दृष्टिसे कोई भेद नहीं है, दोनों एक ही सिक्केके दो पक्ष हैं। व्यवहारमें भी हम देखते हैं कि जिन व्यक्तियों तथा वस्तुओंके साथ हमारा तादात्म्य—एकत्व—अभेद स्थापित हो जाता है उन्हींसे हमें परम सुख मिलता है, और जिनके साथ हमारा भेद बना रहता है, अर्थात् जिनमें हमें आत्मीयताका अनुभव नहीं होता वे व्यक्ति अथवा वस्तुएं हमारे लिए उपेक्षा अथवा दुःखका विषय बनी रहती हैं। हमें अपने पुत्र, मित्र, बन्धु इत्यादि के (जिनके साथ हमारा निजत्व या अभेद स्थापित हो जाता है) उत्कर्षसे सुख मिलता है, परन्तु अन्य वस्तुओं या व्यक्तियोंके उत्कर्षसे (जिनके साथ हम निजत्व की अनुभूति नहीं कर पाते) हमें वैसा सुख प्राप्त नहीं होता। उल्टा मात्सर्यवश कभी कभी तो हमारे असंस्कृत हृदयको उससे आघात ही पहुँचता है। परन्तु ज्यों ज्यों मनुष्यके भीतर निजत्वभावना का, इस अभेदानुभूति का, विस्तार होता है त्यों त्यों उसके जीवनका विकास होता जाता है और जो परिमित निजत्वभावना उसके जीवनमें निष्कृष्ट स्वार्थभावना या संकीर्णताको उत्पन्न करती थी, वह भावना विस्तृत होकर उसके हृदयको उदार बना देती है। ऐसा मनुष्य सर्वत्र निजत्व, आत्मत्वका, दर्शन करता है वह सर्वभूतात्मभूतात्मा बन जाता है, सारी बसुधा ही उसका कुटुम्ब बन जाती है, अपने परायेका भेद तिरोहित हो जाता है, वह अपने अस्तित्वका अनुभव केवल अपने छोटेसे परिमित शरीरमें ही न करके सर्वत्र अपने आत्माके विभूत्वका ही अनुभव करता है, और इस प्रकार अपने आपको खोकर सच्चे अर्थमें अपने आपको पा लेता है। ऐसे महात्माको तुच्छसे तुच्छ प्राणी तथा वस्तुसे भी विजुगुप्सा, घृणा, द्वेष, ईर्ष्या नहीं होती, उसके विशाल हृदयमें सबके लिए स्थान होता है।^१ उसका मानस राग, द्वैत, भय क्रोधादि की तरंगोंसे विक्षुब्ध न होकर सदा प्रसन्न तथा स्थिर बना रहता है, और तब वह परम शान्तिका अनुभव करता है जिसके लिए उसके सम्पूर्ण जीवन की साधना थी। ऐसी स्पृहणीय अवस्थाको प्राप्त करने की कामना किसको न होगी ?

निरतिशय सुखका स्रोत भूमा और उसका स्वरूप

परन्तु कामनामात्रसे ही तो लक्ष्य की प्राप्ति नहीं होती, लक्ष्य प्राप्तिके लिए तो उद्यम करना पड़ता है, निरन्तर कठोर साधना करनी पड़ती है। और जितना ऊँचा लक्ष्य होगा उतनी ही ऊँची साधना होनी चाहिए। मनुष्य की सारी चेष्टाओं तथा प्रवृत्तियोंका एकमात्र स्रोत तथा उसकी सारी सुप्त अथवा उसकी जागरित इच्छाओंका एकमात्र प्रत्यक्ष किंवा परोक्ष आधार तो उसके अन्तरतममें निहित चिर सुख की कामना ही है। मनुष्य सुख प्राप्तिके लिए एक पदार्थके बाद दूसरे पदार्थ का, एक विषयके बाद दूसरे विषयका भोग बरता है, परन्तु थोड़े ही समयके पश्चात् उसे ज्ञात हो जाता है कि कोई भी पदार्थ अथवा विषय उसे स्थायी अथवा पूर्ण सुख प्रदान करनेमें समर्थ या पर्याप्त नहीं है। प्रत्येक पदार्थ तथा विषय सुखके नापसे अल्प अर्थात् छोटे पड़ जाते हैं, अतएव इन पदार्थोंसे, इन विषयोंसे प्राप्त होनेवाला सुख अल्प तथा सापेक्ष है। आज जो पदार्थ सुखरूप है कल वही पदार्थ दुःखरूप हो जाता है। एकके लिए जो सुखरूप है दूसरेके लिए वह उपेक्षणीय है अथवा दुःखरूप है। अतएव अल्प अथवा सापेक्ष सुखसे मनुष्य की आत्यन्तिक तृप्ति होना सम्भव नहीं। उपनिषदोंमें ऋषियोंने यह घोषणा की कि अल्पमें सुख नहीं है भूमामें ही सुख है।^२ जो

१. यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति ।

सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते ॥ ईशोप० ६

२. “यो वै भूमा तत्सुखं नात्पे सुखमस्ति, भूमैव सुखम्” (छा० उप० ७-२३)

विविध : २९३

निरपेक्ष तथा निरतिशय है, जिससे अधिक तथा महान् कोई अन्य सत्ता नहीं है, वही भूमा है, बृहत्तम है, ब्रह्म है शेष सब कुछ अल्प है। भूमाको लक्ष बनाकर जब मनुष्य उसकी ओर निरन्तर गतिसे बढ़ता जाता है, तब उसका जीवन भी उच्च से उच्चतर, महत्से महत्तर बनता चला जाता है। सचमुच लक्ष की ऊँचाईसे ही मनुष्य की ऊँचाई तथा महत्ता मापी जा सकती है।

परन्तु उस भूमा की प्राप्ति के लिए, उस महान् निरपेक्ष शाश्वत सुखकी अनुभूति के लिए तो मनुष्यको अपना सारा जीवन ही साधनामय बनाना होगा। अपने जीवनको एक विशेष साँचेमें ढालना होगा, दूसरे शब्दों-में उसे अपने जीवनका पुनर्निर्माण करना होगा। परन्तु जिस प्रकार ईंट, लकड़ी, लोहा, सीमेंट इत्यादि उपकरणोंको एक ही स्थान पर अव्यवस्थित रूपमें ही इकट्ठा कर देनेसे ही किसी भवनका निर्माण नहीं हो जाता, उसी प्रकार अव्यवस्थित, निरुद्देश्य, लक्ष्यहीन, कर्मों तथा विचारोंके ढेरसे ही जीवनका निर्माण नहीं हो सकेगा। उत्तम भवनके निर्माणके लिए वास्तुकलाका अध्ययन आवश्यक है, जीवन निर्माणके लिए भी जीवनकला अथवा जीवनयोग सीखने की आवश्यकता है, और आवश्यकता है उस जीवनकलाको जीवनेमें उतारने की।

तो हमारे सम्पूर्ण ज्ञानका, तथा सारे कर्मोंका लक्ष्य है भूमा की प्राप्ति और विश्वके मूलमें जो अमृत, अद्वैत, चेतन तत्त्व है वही वस्तुतः भूमा है। इस भूमामें द्वैतका सर्वथा अभाव है। एकमात्र भूमा ही अमृत है, शेष जो कुछ भी अल्प है अर्थात् भूमासे निम्न है, वह भी मर्त्य है, नाशवान् है।^१ भूमा ही एकमात्र परम ज्ञेय है, उसका ज्ञान ही सच्चा ज्ञान है। वेद की सब ऋचाएं उसी अक्षर परम व्योममें प्रतिष्ठित हैं, सब उसी एकमात्र अक्षरका प्रतिपादन कर रही हैं। जो उस अक्षर भूमा को, अद्वैत तत्त्वको नहीं जान सका वह वेद पढ़कर भी क्या करेगा,^२ विश्वके सारे ज्ञानसे भी वह कौनसे लाभ की प्राप्ति कर सकेगा ?

अद्वैत की प्राप्ति के लिए द्वैतका सहारा अनिवार्य

परन्तु इस अद्वैत तत्त्वको, अमृत भूमाको, द्वैत पर आश्रित मर्त्य देहधारी कैसे जाने ? मनुष्य और उसका सम्पूर्ण जीवन ही द्वैतके अन्तरगत है। विश्वका सारा व्यवहार ही द्वैत पर आश्रित है। द्वैतसे बाहर जाकर ही अद्वैत प्राप्त किया जा सकता है। परन्तु क्या मनुष्यके लिए द्वैतका अतिक्रमण करना सम्भव है, शक्य है ? यह एक ऐसा प्रश्न है जो प्रत्येक सच्चे जिज्ञासुके मनमें उठा करता है। और जिसको सुलझानेका तत्त्वदर्शी ऋषियोंने, संसारके सभी मनीषियोंने अपने-अपने ढंगसे प्रयत्न किया है।

द्वैत की चाहे पारमार्थिक सत्ता न हो, व्यावहारिक सत्ता तो है ही, इसे कौन इनकार कर सकता है ? मनुष्य, उसका जीवन, और संसार तथा उसका सारा व्यवहार सभी व्यावहारिक रूपसे सत्य हैं, उसकी उपेक्षा करना उसका उचित उपयोग न करना किसी भी प्रकारसे वांछनीय नहीं है। मानव जीवन द्वैत वृक्षपर लगा हुआ एक सुन्दर फल है। जब तक वह इस वृक्षसे अपनी पूरी पुष्टि, पूरा विकास, नहीं प्राप्त कर लेता तब तक वह द्वैतसे, मृत्युके बन्धनसे छुटकारा नहीं पा सकता, और तब तक उसका अमृतसे वियोग बना ही रहेगा। इस लिए अद्वैतके साक्षात्कारका, भूमा की प्राप्ति का, मृत्युसे पार होनेका उच्च लक्ष्य रखते हुए द्वैतके सहारे

१. यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमा.....यो वै भूमा तदमृतमथ यदल्पं तन्मर्त्यम् (छान्दोग्योपनिषद् ७-२४)

२. “ऋचोऽक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधिविश्वे निषेद्धः।

यस्तत्र वेद किमृचा करिष्यति य इत् तद् विदुस्त इमे समासते ॥ (ऋग्वे० १-१६४)

शनैः-शनैः ऊपर उठता है। मनुष्यके लिए वेदका अमर आदेश है “उद्यानं ते पुरुष नावयानम्” (अथर्ववेद ८-१-६) “हे पुरुष, तेरा निरन्तर उद्यान, (ऊर्ध्वगमन), हो, अवयान (अधोगमन, अधोगति) न हो।” वेदके इस उच्च आदेशको भगवान् कृष्णने गीतामें पुनः दोहराया “उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्” (६-५), “मनुष्य अपने आत्माका उद्धार करे, उसे ऊपर उठावे नीचे न गिरावे।” कौन है ऐसा अभागा जो उद्यान (ऊपर उठना) आत्मोद्धार नहीं चाहता।

जैसा कि पहले कहा गया है उद्यान अर्थात् आत्मोद्धारके लिए आवश्यकता है साध्य तथा साधनके सही ज्ञान की, लक्ष्य तथा साधनाके उचित सामंजस्यकी अर्थात् जीवनकाल सीखकर उसे ठीक प्रकारसे जीवनमें उतारने की। मनुष्यका जीवनकाल अत्यन्त ही परिमित है। अनन्त कालके अपार सागरके एक बूंदसे भी अल्प है हमारा जीवनकाल; ऐसी परिस्थितिमें क्या नहीं जानना है और क्या जानना है, क्या नहीं करना है और क्या करना है, इसका हमें विवेकपूर्ण चुनाव कर लेना होगा, फल्युको त्यागकर सारको ग्रहण करना ही बुद्धिमत्ता है। सभी प्रकारका ज्ञान उपादेय नहीं है, सभी प्रकारका कर्म करणीय नहीं है। ऐसा कोरा ज्ञान जिसका जीवन-निर्माणसे, आत्मविकाससे, आत्मोद्धार तथा उद्यानसे कोई भी सम्बन्ध न हो भाररूप है क्योंकि वह जीवनको ऊपर उठनेसे रोकता है। गीताके अनुसार जिस ज्ञानसे जीवनमें कोई उच्च परिवर्तन न हो, जिस ज्ञानसे जीवनमें दैवी सम्पत्की वृद्धि न हो, संक्षेपमें जिस ज्ञानसे जीवनका विकास तथा उत्थान न हो वह ज्ञान वस्तुतः अज्ञान ही है।^१ इसी प्रकार जिस कर्मसे मनुष्य अपने लक्ष्यकी ओर अग्रसर न हो, जिस कर्मसे मनुष्य अपने चारों ओरके द्वैतके आवरणको, त्रिगुणात्मक मायाके बन्धनको, ढीला न कर सके, संक्षेपतः जिस कर्म द्वारा, जीवनकी जिस गति द्वारा, वह भूमाके, अद्वैत अमृततत्त्वके अधिकाधिक निकट न पहुँच सके वह कोरा अकर्म या विकर्म है। और उसके द्वारा केवलमात्र जीवकी शक्तिका ह्रास ही होता है।

व्यवहारमें अद्वैत तथा द्वैतके समन्वयका स्वरूप

अतएव द्वैत से पार होनेका, अद्वैतकी प्राप्ति, एक मात्र उपाय है जीवनोपयोगी ज्ञान तथा कर्मके द्वैतका सहारा लेकर दृढ़तापूर्वक निरन्तर आगे बढ़ते रहना। ज्ञानके दायें पगको आगे रखते हुए कर्मके बाँए पगसे उसका अनुसरण करते जाना, ज्ञान और कर्मके दोनों पंखोंमें संतुलन (Balance) रखते हुए अबाध गतिसे ऊपर ऊपर उड़ते जाना। ज्ञान और कर्मके इस संतुलनमें जहाँ अन्तर पड़ा कि ऊपरके उड़नेमें, उद्-यानमें, बाधा पड़ जाती है और मनुष्य फिर द्वैतकी ओर लौटने लगता है। ज्ञानके साथ कर्मका मेल न हो तो ज्ञान पंगु है, और कर्मका आधार ज्ञान न हो तो कर्म अन्धा है। ज्ञान और कर्मके सही संतुलनसे, ठीक समन्वयसे ही जीवनकी ऊर्ध्वगति संभव है। द्वैतसे ऊपर उठकर ही अद्वैतकी प्राप्ति शक्य है।

अद्वैतकी प्राप्तिके निमित्त आसक्तिका त्याग तथा अभेद भावनाका अभ्यास होना आवश्यक है। ज्यों-ज्यों मनुष्यके हृदयमें अनासक्तिकी वृद्धि होती जाती है, त्यों-त्यों उसके अन्तस्थलमें अभेद भावनाकी प्रतिष्ठा होती जाती है। आसक्तिके त्यागका सर्वोत्तम उपाय है अपनी दृष्टिको, अपने विचारोंको उदात्त, विशाल और व्यापक बनाना, और अपने प्रत्येक कार्यको विशाल और व्यापक दृष्टिसे करना। क्षुद्र दृष्टि

तथा संकुचित विचारधारा ही आसक्तिको जन्म देती है। तथा फिर यह आसक्ति भेदभावनाकी वृद्धिमें सहायक होती है। अतएव अपने प्रत्येक कर्तव्यको, प्रत्येक कार्यको (चाहे वह कार्य जनसमाजमें कितना ही छोटा या तुच्छ क्यों न समझा जाता हो) जब मनुष्य स्वार्थबुद्धि या आसक्तिका त्याग करके पूरे कौशल तथा मनोयोग पूर्वक करने लगता है, और उस कार्यको करनेमें अपने वैयक्तिक स्वार्थ साधनकी अपेक्षा समाज-कल्याणको, भूतहितको, ही अधिक महत्त्व देने लगता है, तभी उसके अन्दर विशाल और व्यापक दृष्टिका उत्तरोत्तर विकास सम्भव है। और जब मनुष्यकी दृष्टि इतनी विशाल और व्यापक हो जाती है कि उसका प्रत्येक कार्य, उसके शरीरकी प्रत्येक चेष्टा, श्वासोच्छ्वाससे लेकर भोजन करने तथा सोने तककी उसकी प्रत्येक क्रिया सहज भावसे ही विश्व सेवाके रूपमें, यज्ञके रूपमें, भगवदर्चाके रूपमें, होने लगती है, तब उसका अहंभाव समाप्त हो जाता है; क्योंकि उस अवस्थामें उसके सभी कर्म उसी प्रकार सहजसाध्य हो जाते हैं जिस प्रकार उसकी श्वसन क्रिया। इस स्थितिमें मनुष्यका संसारमें अपना कुछ नहीं रहता और सभी कुछ उसका हो जाता है। तब वह स्वयं इतना विशाल तथा व्यापक बन जाता है कि यद्यपि उसके पैर द्रव्यकी भूमिपर टिके रहते हैं, परन्तु उसका सिर अद्रव्यके उच्च तथा निर्मल आकाशको छूता रहता है। और तब उसके जीवनमें द्रव्य-अद्रव्यका सच्चा समन्वय हो जाता है। तब शाश्वत तथा विस्तृत दृष्टिसे द्रव्य भूमि पर किया हुआ पृथक्-पृथक् देवका यजन भी उसी अद्रव्य तत्त्व या परब्रह्म देवको स्वतः समर्पित होता रहता है।^१

१. यच्चिद्धि शश्वता तना देवं देवं यजामहे ।

त्वे इद् हूयते हवि : ॥ ऋग्वेद १-२६-६

२९६ : अजरचन्द नाहटा अभिनन्दन-ग्रन्थ